गांधी-शिक्षा

१

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

पहला भाग

गांधीजी की रचनाओं में से उनकी जीवन-शिक्षा का बालकोपयोगी संग्रह

उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग द्वारा वहां के समस्त जूनियर हाईस्कूलों की छठी कक्षा के लिए सहायक पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली
सत्ताईसवीं बार : १९८१

मूल्य : रु० ००.७०

अग्रवाल प्रिंटर्स,
दिल्ली

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में महात्मा गांधी की कई पुस्तकों में से चुनकर सामग्री इकट्ठी की गई है और उनके वे सब बुनियादी विचार शामिल कर लिये गये हैं, जो युवकों, विशेषकर स्कूलों और कालेजों के छात्रों और छात्राओं के चरित्र-निर्माण की दृष्टि से परम आवश्यक हैं। गांधीजी ने सबसे अधिक जोर आदमी के चरित्र के विकास पर दिया है। उनका मानना था कि यदि व्यक्ति सुधर जाय तो समाज और राष्ट्र अपने-आप सुधर जायंगे। इस पुस्तक में अधिकांश उन विषयों को ही लिया गया है, जो आदमी के अंदर गुणों का विकास करने और उसे उपयोगी नागरिक बनने की शिक्षा देते हैं।

हम चाहते हैं कि बापू की शिक्षाओं की सार-रूप यह पुस्तक लाखों की संख्या में प्रसारित होकर बालक-बालक के हाथ में पहुंचे, वे इसे पढ़ें और इसकी शिक्षाओं को अपने जीवन में उतारें। यह काम राज्यों के शिक्षा-संचालकों के सहयोग से ही संभव हो सकेगा। अतः शिक्षाधिकारियों से हमारा अनुरोध है कि वे अपने राज्य के स्कूलों और कालेजों के बालकों में इन विचारों को अधिक-से-अधिक फैलाने में 'मंडल' को सहायता देने की कृपा करें। कहने की आवश्यकता नहीं कि जहां यह पोथी विद्यार्थियों को कर्त्तव्य का बोध कराती है और संयम एवं अनुशासन का पाठ पढ़ाती है, वहां यह उन्हें सेवाभावी तथा सदाचार-युक्त जीवन के निर्माण में योग देती है। विद्यार्थियों से हमारा निवेदन है कि वे इस पुस्तक को पढ़ें और सोचें कि उनके बापू उनसे क्या आशा रखते थे और उन्हें कैसा बनाना चाहते थे।

—मंत्री

विषय-सूची

गांधी-शिक्षा

[पहला भाग]

: १ :

मेरा विद्यार्थी-जीवन

मेरा बचपन पोरबंदर में ही बीता। ऐसा याद पड़ता है कि किसी पाठशाला में मैं पढ़ने बैठाया गया था। मुश्किल से कुछ पहाड़े सीखे होंगे, बाकी तो और लड़कों के साथ गुरुजी को गाली देना सीखने के अलावा और कुछ सीखा, यह याद नहीं है। इससे अनुमान करता हूं कि मेरी बुद्धि मंद रही होगी और स्मरण-शक्ति कच्ची।

पोरबंदर से पिताजी 'राजस्थानिक कोर्ट'[1] के सदस्य होकर जब राजकोट गये उस समय मेरी उम्र कोई सात साल की होगी। राजकोट की ग्रामीण पाठ-शाला में मैं भरती कराया गया। उन दिनों का मुझे भलीभांति स्मरण है। मास्टरों के नाम-धाम भी याद हैं। पोरबंदर की तरह वहां की पढ़ाई के संबंध में कोई खास बात जानने लायक नहीं। मेरी गिनती साधारण श्रेणी के विद्यार्थियों में रही होगी। पाठशाला से ऊपर के स्कूल में और वहां से हाईस्कूल तक पहुंचने

---

[1] उस समय की काठियावाड़ की एक विशेष अदालत।

में मेरा बारहवां वर्ष बीत गया। तबतक मैंने कभी किसी शिक्षक को धोखा दिया हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। न तबतक दोस्त बनाने का स्मरण है। मैं बहुत संकोची लड़का था। मदरसे में अपने काम-से-काम रखता था। घंटी बजते-बजते पहुंच जाता और स्कूल बंद होते ही घर भाग आता। 'भाग आता' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया है, क्योंकि मुझे किसीके साथ बातें करना नहीं रुचता था—मुझे यह डर भी बना रहता था कि कहीं कोई मेरा मजाक न उड़ावे।

हाईस्कूल के पहले ही वर्ष की परीक्षा के समय की एक घटना उल्लेखनीय है। शिक्षा-विभाग के इंस्पेक्टर, जाइल्स साहब मुआइने के लिए आये। उन्होंने पहले दर्जे के विद्यार्थियों को पांच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द था 'केटिल'[1] (Kettle)। उसके हिज्जे मैंने गलत लिखे। मास्टर ने मुझे बूट के इशारे से चेताया; पर मैं कहां समझनेवाला था! मेरे दिमाग में यह बात न आई कि मास्टरसाहब मुझे सामने के लड़के की स्लेट देखकर हिज्जे दुरुस्त करने का इशारा कर रहे हैं। मैंने यह मान रखा था कि मास्टर तो इसके लिए तैनात हैं कि कोई लड़का दूसरे की नकल न कर सके। सब लड़कों के पांचों शब्द सही निकले, अकेला मैं ही बेवकूफ बन गया। मेरी बेवकूफी बाद को मास्टर ने बतलाई। मेरे मन पर उसका कोई असर नहीं हुआ। दूसरे लड़कों की नकल करना मुझे कभी न आया।

---

[1] पानी आदि गरम करने का बर्तन।

ऐसा होते हुए भी मास्टर के प्रति मेरा आदर कभी न घटा। बड़े-बूढ़ों के दोष न देखने का गुण मुझमें स्वाभाविक था। बाद को तो इन मास्टरसाहब के दूसरे दोष भी मेरी नजर में आये। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर ज्यों-का-त्यों कायम रहा। मैं इतना जानता था कि बड़े-बूढ़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, जो वे कहें करना चाहिए; पर वे जो कुछ करें, उसका क़ाजी हमें नहीं बनना चाहिए।

इसी बीच दूसरी दो घटनाएं हुईं, जो मुझे सदा याद रही हैं। मामूली तौर पर मुझे कोर्स की पुस्तकों के अलावा कुछ भी पढ़ने का शौक न था। पाठ पूरा करना चाहिए, डांट सही नहीं जाती थी, मास्टर से छल-कपट करना नहीं था, इस विचार से मैं पाठ पढ़ता; पर मन न लगा करता। इससे पाठ बहुत बार कच्चा रह जाता। ऐसी हालत में दूसरी पुस्तक पढ़ने को जी कैसे चाहता? परंतु पिताजी की खरीदी एक पुस्तक 'श्रवण-पितृ-भक्ति' नाटक पर मेरी नजर पड़ी। इसे पढ़ने को दिल चाहा। बड़े अनुराग और चाव से मैंने उसे पढ़ा। इन्हीं दिनों काठ के बक्स में शीशों से तस्वीर दिखाने-वाले भी फिरा करते। उनमें मैंने श्रवणकुमार का अपने माता-पिता को कांवर में बैठाकर यात्रा के लिए ले जानेवाला चित्र देखा। दोनों चीजों का मुझपर गहरा असर पड़ा। मन में श्रवणकुमार के समान होने के विचार उठते। श्रवणकुमार की मृत्यु पर उसके माता-पिता का विलाप अब भी याद है।

इसी समय एक नाटक-कंपनी आई और मुझे उसका नाटक देखने की इजाजत मिल गई । इसमें हरिश्चंद्र की कथा थी। इस नाटक को देखने से मेरी तृप्ति नहीं होती थी। बार-बार उसे देखने को मन हुआ करता; पर बार-बार जाने ही कौन देता ? जो हो, अपने मन में मैंने इस नाटक को सैंकड़ों वार दुहराया होगा । हरिश्चंद्र के सपने आया करते। यही धुन लगी रहती कि हरिश्चंद्र की तरह सत्यवादी क्यों न हों ? यही धारणा होती कि हरिश्चंद्र की तरह विपत्तियां भोगना और सत्य का पालन करना ही वास्तविक सत्य है। मैंने तो यही मान रक्खा था कि नाटक में जैसी विपत्तियां हरिश्चंद्र पर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तव में उनपर पड़ी होंगी। हरिश्चंद्र के दुःखों को देखकर और उन्हें याद करके मैं खूब रोया हूं। आज मेरी बुद्धि कहती है कि संभव है, हरिश्चंद्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हों, पर मेरे हृदय में तो हरिश्चंद्र और श्रवणकुमार आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूं कि आज भी यदि मैं उन नाटकों को पढ़ूं तो आंसू आये बिना न रहें।

•

जब मेरा विवाह हुआ उस समय मैं हाईस्कूल में पढ़ता था। मेरे साथ मेरे और दो भाई भी उसी स्कूल में पढ़ते थे। बड़े भाई बहुत ऊपर के दर्जे में थे और जिन भाई का विवाह मेरे साथ ही हुआ था, वह मुझसे एक दर्जा आगे थे। विवाह का परिणाम यह हुआ कि हम दोनों भाइयों का एक साल बेकार गया। मेरे भाई

को तो और बुरा परिणाम भोगना पड़ा। विवाह के बाद उन्हें स्कूल छोड़ देना पड़ा। भगवान जानते हैं, विवाह के कारण कितने नवयुवकों को ऐसे अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते हैं।

मेरी पढ़ाई जारी रही। हाईस्कूल में मैं मंद-बुद्धि विद्यार्थी नहीं माना जाता था। शिक्षकों का प्रेम तो मैंने सदा प्राप्त किया था। हर साल माता-पिता को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के संबंध में प्रमाण-पत्र भेजे जाते। उनमें किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल-चलन की शिकायत नहीं की गई। दूसरे दर्जे के बाद इनाम भी पाये और पांचवें तथा छठे दर्जे में तो क्रमशः ४) और १०) मासिक की छात्रवृत्तियां भी मिली थीं। इस सफलता में मेरी योग्यता की अपेक्षा भाग्य का ज्यादा जोर था। ये छात्रवृत्तियां सब लड़कों के लिए नहीं, सौराष्ट्र प्रांत के विद्यार्थियों के ही लिए थीं और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियों के दर्जे में सौराष्ट्र के विद्यार्थी हो ही कितने सकते थे ?

जहांतक मुझे याद है, अपनी होशियारी पर मुझे गर्व न था। इनाम अथवा छात्रवृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता; परंतु हां, अपने आचरण का मुझे बड़ा खयाल रहता था। सदाचार में यदि चूक होती तो मुझे रुलाई आ जाती। यह मेरे लिए बर्दाश्त से बाहर था कि मेरे हाथों कोई ऐसी बात हो कि शिक्षक को शिकायत का मौका मिले या वह मन में ऐसा सोचें। मुझे याद है कि एक बार मुझे मार खानी पड़ी थी।

मार खाने का दु:ख न था, पर इस बात का बड़ा पछतावा था कि मैं दंड का पात्र समझा गया। मैं खूब रोया। यह घटना पहले या दूसरे दर्जे की है। दूसरा प्रसंग सातवें दर्जे का है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वह कड़ा अनुशासन रखते थे, फिर भी विद्यार्थियों में प्रिय थे, वह बाकायदा काम करते थे और काम लेते तथा पढ़ाते अच्छा थे। उन्होंने ऊंचे दर्जे के विद्यार्थियों के लिए कसरत, क्रिकेट आदि अनिवार्य कर दिया था। मेरा मन उसमें न लगता था। अनिवार्य होने के पहले तो मैं कसरत, क्रिकेट या फुटबाल में कभी जाता ही न था। न जाने में मेरा संकोची स्वभाव भी एक कारण था। अब मैं देखता हूं कि कसरत की यह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरत का शिक्षा के साथ कोई संबंध नहीं। बाद में समझ में आया कि विद्याभ्यास में व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षा का मानसिक शिक्षा के समान ही स्थान होना चाहिए।

फिर भी मैं कहना चाहता हूं कि कसरत में न जाने से हानि नहीं हुई; क्योंकि मैंने पुस्तकों में खुली हवा में घूमने की सलाह पढ़ी थी। यह बात मुझे पसंद आई और तभी से घूमने जाने की मेरी आदत पड़ गई, जो अबतक है। घूमना भी व्यायाम तो है ही और इससे मेरे शरीर में थोड़ा कसाव आ गया।

व्यायाम की जगह घूमना जारी रखने की वजह से शरीर से कसरत न करने की भूल के लिए तो मुझे

सजा नहीं भोगनी पड़ी, पर दूसरी एक भूल की सजा मैं आज तक भोग रहा हूं । पता नहीं कहां से मेरा यह गलत ख्याल हो गया था कि पढ़ाई में सुंदर लिखावट की जरूरत नहीं है । यह विलायत जाने तक बना रहा । बाद में पछताया और शरमाया । मैंने समझा कि अक्षरों का खराब होना अधूरी शिक्षा की निशानी है । हरेक युवक और युवती मेरे उदाहरण से सबक लें और समझें कि सुंदर अक्षर शिक्षा का आवश्यक अंग है ।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें उल्लेख करने योग्य हैं । चौथे दर्जे से कुछ विषयों की शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती थी; पर मैं कुछ समझ ही नहीं पाता था । रेखागणित में मैं यों भी पीछे था और फिर अंग्रेजी में पढ़ाये जाने के कारण समझ में भी नहीं आता था । शिक्षक समझाते तो अच्छा थे; पर मेरे दिमाग में कुछ घुसता ही न था । मैं बहुत बार निराश हो जाता । परिश्रम करते-करते जब रेखागणित की तेरहवीं शक्ल तक पहुंचा तब मुझे एकाएक लगा कि रेखागणित तो सबसे आसान विषय है । जिस बात में केवल बुद्धि का सीधा और सरल प्रयोग ही करना है उसमें मुश्किल क्या है ? उसके बाद से रेखागणित मेरे लिए सहज और मजेदार विषय होगया ।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी । रेखागणित में तो रटने की कोई बात न थी; परंतु संस्कृत में मेरी दृष्टि से अधिक काम रटने का ही था । यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता

था। छठी कक्षा में जाकर तो मेरा दिल बैठ गया। संस्कृत-शिक्षक बड़े सख्त थे। विद्यार्थियों का बहुत-सा पढ़ा देने का उन्हें लोभ था। संस्कृत और फारसी के दर्जे में एक प्रकार की होड़-सी थी। फारसी के मौलवी-साहब नरम थे। विद्यार्थी आपस में बातें करते कि फारसी तो बहुत सरल है और फारसी के अध्यापक भी बड़े सज्जन हैं। विद्यार्थी जितना काम कर लाते हैं, उतने से ही वह निभा लेते हैं। सहज होने की बात से मैं भी ललचाया और एक दिन फारसी के दर्जे में जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षक को इससे दुःख हुआ और उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—"तुम सोचो तो कि तुम किसके लड़के हो। अपनी धार्मिक भाषा नहीं सीखोगे? अपनी कठिनाई मुझे बताओ। मेरी तो इच्छा रहती है कि सब विद्यार्थी अच्छी संस्कृत सीखें। आगे चल-कर उसमें रस-ही-रस है। तुमको इस तरह निराश न होना चाहिए। तुम फिर मेरे दर्जे में आजाओ।"

मैं शरमाया। शिक्षक के प्रेम की अवहेलना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर पंड्या की कृतज्ञ है; क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी, यदि उतनी भी न पढ़ी होती तो आज मैं संस्कृत-शास्त्रों में जो रस ले सकता हूं वह न ले पाता। बल्कि अधिक संस्कृत न पढ़ सका, इसका पछतावा होता है; क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिंदू-बालक को संस्कृत के अध्ययन से वंचित नहीं रहना चाहिए।

: २ :

चोरी और प्रायश्चित्त

मांसाहार के समय के और उसके पहले के अपने कुछ दोषों का वर्णन करना अभी बाकी है। वे या तो विवाह के पहले के हैं या कुछ ही बाद के।

अपने एक रिश्तेदार की सोहबत में मुझे सिगरेट पीने का शौक हुआ। पैसे तो हमारे पास थे नहीं। सिगरेट पीने के किसी फायदे या उसकी गंध के मजे से तो हम दोनों में से कोई भी परिचित नहीं था, पर मुझे धुआं उड़ाने में ही कुछ मजा-सा आता था। चाचाजी को सिगरेट की आदत थी और उन्हें तथा औरों को धुआं उड़ाते हुए देखकर हमें भी कश खींचने का शौक हुआ। पैसे पास न होने के कारण हमने चाचाजी की सिगरेटों के बचे फेंके हिस्से को चुराना शुरू किया।

परंतु यह टुकड़े हमेशा नहीं मिल पाते थे और न उनमें से ज्यादा धुआं ही निकल सकता था। इसलिए नौकरों की जेबों में पड़े दो-चार पैसों में से हम बीच-बीच में एकाध पैसे चुराने लगे और उससे सिगरेट पीने लगे, पर छिपाकर रखने की समस्या सामने आई। इतना खयाल था कि बड़े-बूढ़ों के सामने सिगरेट पीना संभव नहीं है। ज्यों-त्यों दो-चार पाई-पैसे चुराकर कुछ हफ्ते काम चलाया। इसी बीच सुना कि एक पौधा (उसका नाम भूल गया) ऐसा होता है जिसका डंठल सिगरेट की तरह जलता है और वह पिया जा

सकता है। हमने वह लाकर धुआं उड़ाना शुरू किया।

पर हमें संतोष न हुआ। अपनी पराधीनता हमें खलने लगी। यह कष्टदायक होगया कि बड़ों की आज्ञा बिना कुछ भी न हो सके। हम परेशान होगये और आत्महत्या करने का निश्चय किया।

परंतु आत्महत्या कैसे करें ? ज़हर कहां से लावें ? हमने सुना कि धतूरे के बीज से मृत्यु होती है। जंगल में घूम-फिरकर बीज लाये। खाने का समय शाम को रखा। केदारजी के मंदिर की दीपमाला में घी चढ़ाया, दर्शन किये और फिर एकांत में गये; पर ज़हर खाने की हिम्मत न हुई। 'तत्काल मृत्यु न हो तो ? मरने से लाभ क्या होगा ? पराधीनता में ही क्यों न पड़े रहें ?' ये विचार मन में आने लगे। फिर भी दो-चार बीज खा ही डाले; पर ज्यादा खाने की हिम्मत न हुई। हम दोनों मौत से डर गये। निश्चय किया कि चलकर रामजी के मंदिर में दर्शन करें और शांति से बैठें और आत्महत्या की बात मन से भुला दें।

तब मैंने समझ लिया कि आत्महत्या का विचार करना सरल है, पर आत्महत्या करना नहीं। इससे जब कोई आत्महत्या करने की धमकी देता है तब मुझ-पर उसका बहुत कम असर होता है या यह भी कह सकता हूं कि बिल्कुल नहीं होता।

आत्महत्या के निश्चय का एक परिणाम यह हुआ कि हमारी झूठी सिगरेट चुराकर पीने की, नौकरों के पैसे चुराने की और उससे सिगरेट खरीदकर

पीने की आदत ही जाती रही। बड़ा होने पर मुझे कभी सिगरेट पीने की इच्छा ही नहीं हुई और मैं सदा इस आदत को जंगली, हानिकारक और गंदी मानता आया हूं। अबतक मैं यह समझ ही न पाया कि सिगरेट-बीड़ी का इतना जबर्दस्त शौक दुनिया में क्यों है ? रेल के जिस डिब्बे में बीड़ी-सिगरेट का धुआ उड़ता है, वहां बैठना मेरेलिए कठिन हो जाता है और उसके धुएं से मेरा दम घुटने लगता है।

सिगरेट के टुकड़े और उनके लिए नौकरों के पैसे चुराने के अपराध के सिवा अन्य एक चोरी का जो अपराध मुझसे बन पड़ा, उसे मैं अधिक गंभीर मानता हूं। सिगरेट के अपराध के दिनों में तो मेरी उम्र १२-१३ वर्ष की होगी, शायद इससे भी कम हो। दूसरी चोरी के समय १५ साल की रही होगी। यह चोरी थी मेरे मांसाहारी भाई के सोने के कड़े के टुकड़े चुराने की। उन्होंने कोई २५) के लगभग कर्ज कर लिया था। हम दोनों भाई इसे चुकाने के चक्कर में थे। मेरे भाई के हाथ में सोने का एक ठोस कड़ा था। उसमें से तोला-भर सोना काट लेना कठिन न था।

कड़ा कटा और कर्ज निवट गया; पर मेरे लिए यह बात असह्य होगई। आगे से चोरी न करने का मैंने निश्चय किया। यह भी सोचा कि पिताजी के सामने इसे स्वीकार कर लेना चाहिए, पर जबान खुलनी कठिन थी। यह डर तो नहीं था कि पिताजी मुझे पीटेंगे क्योंकि याद नहीं पड़ता कि उन्होंने हम भाइयों में से

किसीको कभी पीटा हो; पर यह डर जरूर था कि वह खुद बड़े दु:खी होंगे और शायद अपना सिर धुन डालेंगे ? लेकिन सोचा कि यह खतरा उठाकर भी अपना दोष स्वीकार करना ही उचित है। ऐसा लगा कि इसके बिना शुद्धि नहीं होगी।

अंत में मैंने पत्र लिखकर दोष स्वीकार करते हुए माफी मांगने का निश्चय किया। मैंने पत्र लिखकर अपने हाथ से उन्हें दिया। पत्र में सब दोष स्वीकार किया था और दंड मांगा। इसके लिए विनय की कि मेरे अपराध के लिए अपनेको कष्ट में न डालें और प्रतिज्ञा की कि भविष्य में ऐसा अपराध फिर न करूंगा।

मैंने कांपते हाथों यह पत्र पिताजी के हाथ में दिया। मैं उनके तख्त के सामने बैठ गया। इन दिनों उनके एक भयंकर रोग उभरा हुआ था, इसलिए वह बिस्तरे पर ही पड़े रहते थे। खाट के बदले तख्त काम में लाते थे।

उन्होंने पत्र पढ़ा। आंखों से मोती की बूंदें टपकीं। पत्र भीग गया। तनिक देर के लिए उन्होंने आंखें मूंदीं और पत्र फाड़ डाला। पत्र पढ़ने को बैठे थे, सो फिर लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजी की पीड़ा का मैंने अनुभव किया। यदि मैं चितेरा होता तो आज भी वह चित्र हूबहू खींचकर रख देता। मेरी आंखों के सामने आज भी वह दृश्य नाच रहा है।

इस मुक्ता-बिंदुओं के प्रेम-बाण ने मुझे बेध दिया। मैं शुद्ध होगया। इस प्रेम को तो वही जान सकता है,

जिसे उसका अनुभव हुआ हो ।

राम-बाण वाग्यां रे होय ते जाणे ।[1]

ऐसी शांतिमय क्षमा पिताजी के स्वभाव के प्रतिकूल थी । मैंनें सोचा था कि वह गुस्सा होंगे, फटकारेंगे शायद अपना सिर भी धुन लें; पर उन्होंने तो असीम शांति का परिचय दिया । मैं समझता हूं कि यह दोष की शुद्धहृदय से की गई स्वीकृति का परिणाम था । जो मनुष्य अधिकारी व्यक्ति के सामने स्वेच्छापूर्वक अपना दोष शुद्धहृदय से कह देता है और फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा करता है, वह मानों शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है । मैं जानता हूं कि मेरे इस इकरार से पिताजी मेरे संबंध में निर्भय होगये और उनका प्रेम मेरे प्रति और भी बढ़ गया ।

: ३ :

धर्म की झलक

छठे-सातवें से शुरू करके सोलह साल का होने तक पढ़ा, पर पाठशाला में कहीं भी धर्म-शिक्षा न मिली । कहना चाहिए कि जो वस्तु शिक्षकों से अनायास ही मिलनी चाहिए थी वह नहीं मिली; पर वातावरण से कुछ-न-कुछ तो मिलती ही रही । यहां धर्म का उदार अर्थ लेना चाहिए । धर्म अर्थात् आत्म-बोध, आत्म-ज्ञान

---

[1] जो राम-बाण से बिंधा हो, वही इसके प्रभाव को जानता है ।

वैष्णव-संप्रदाय में जन्म होने के कारण मुझे हवेली (मंदिर) जाने का मौका अक्सर मिला करता था; पर उसके लिए मेरे मन में श्रद्धा न उपजी। मंदिर का वैभव मुझे न रुचा। वहां चलनेवाली अनीति की कथाएं सुनकर उससे मन हट गया। वहां से मुझे कुछ न मिला।

पर मंदिर से न मिलनेवाली चीज दाई से मिली। वह कुटुंब की पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। मैं भूत-प्रेत आदि से डरता था। रंभा ने मुझे बताया कि इसकी दवा राम-नाम है। मुझे तो राम-नाम की अपेक्षा रंभा पर अधिक श्रद्धा थी, इसलिए मैंने बचपन में भूत-प्रेत के भय से बचने को राम-नाम का जप आरंभ किया। वह अधिक दिन न चला, पर बचपन में बोया हुआ बीज व्यर्थ नहीं गया। आज मेरे लिए राम-नाम अमोघ शक्ति है, उसका कारण मैं रंभा-बाई के बोये बीच को मानता हूं।

इसी बीच मेरे एक चचेरे भाई ने, जो रामायण के भक्त थे, हम दोनों भाइयों के लिए राम-रक्षा-स्तोत्र[1] का पाठ सीखने का प्रबंध कर दिया। हमने उसे कंठ कर लिया और प्रातःकाल स्नान के बाद नित्य पाठ का नियम बनाया। पोरबंदर में रहने तक तो यह निभा, राजकोट के वातावरण में जाता रहा। इस क्रिया में भी विशेष श्रद्धा नहीं थी। उक्त बड़े भाई के प्रति

[1] श्री रामचंद्रजी की संस्कृत में एक प्रार्थना, जिसमें भक्त सब तरह अपनी रक्षा के लिए विनय करता है।

आदर और कुछ रामरक्षास्तोत्र को शुद्ध उच्चारण के साथ पढ़ने के अभिमान के कारण उसका पाठ चलता रहा था।

पर जिस चीज का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा वह था रामायण का पाठ। पिताजी की बीमारी का कुछ काल पोरबंदर में बीता था। यहां वह रामजी के मंदिर में नित्य रात को रामायण सुना करते थे। सुनानेवाले थे रामचंद्रजी के एक परम भक्त---बीलेश्वर के लाधा महाराज। उनके विषय में कहा जाता था कि उन्हें कोढ़ होगया था। उसकी दवा करने के वदले उन्होंने बीलेश्वर के बिल्वपत्र, जो महादेवजी पर से उतरते थे, कोढ़वाले अंग पर बांधे और केवल रामनाम का जप चलाया। इससे उनका कोढ़ जड़ से जाता रहा। यह बात सच हो या न हो, हम सुननेवालों ने इसे सच माना। यह भी सही है कि लाधा महाराज ने जव कथा आरंभ की थी तव उनका शरीर विल्कुल नीरोग था। लाधा महाराज का कंठ मधुर था। वह दोहे-चौपाई गाकर उनका मतलब समझाते थे। स्वयं उसके रस में लीन हो जाते थे और श्रोताओं को भी लीन कर देते थे। मेरी अवस्था इस समय कोई तेरह साल की रही होगी, पर यह याद है कि मुझे उनकी कथा में खूब रस मिलता था। यह रामायण-श्रवण रामायण पर मेरे गहरे प्रेम की बुनियाद है। मैं आज तुलसीदास की रामायण को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं।

कुछ महीने बाद हम राजकोट आये। वहां ऐसी कथा का प्रबंध नहीं था। अलबत्ता एकादशी को भागवत की कथा हुआ करती थी। मैं उसमें कभी-कभी बैठता था, पर व्यासजी उसमें रस न उपजा सके। आज मैं देखता हूं कि भागवत ऐसा ग्रंथ है कि जिसे पढ़कर धर्मरस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने तो उसे गुजराती में बड़े रस के साथ पढ़ा था। पर मेरे इक्कीस दिनों के उपवास में जब भारतभूषण पंडित मदनमोहन मालवीयजी के श्रीमुख से मूल संस्कृत के कितने ही अंश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तब मुझे मालूम हुआ कि बचपन में उन-जैसे भगवद्भक्त के मुंह से भागवत सुना होता तो उसपर भी गाढ़ प्रीति बचपन में ही जम जाती। उस उम्र में पड़े भले-बुरे संस्कारों की जड़ बड़ी गहराई तक पहुंच जाती है, इसे मैं खूब अनुभव करता हूं और इस कारण कितने ही उत्तम ग्रंथों के सुनने का सौभाग्य मुझे उस उम्र में प्राप्त न होना आज खलता है।

राजकोट में मुझे अनायास सब संप्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा मिली। हिंदू-धर्म के प्रत्येक संप्रदाय के प्रति आदर-भाव रखना सीखा, क्योंकि माता-पिता वैष्णव मंदिर जाते, शिवालय जाते और राममंदिर भी जाते और हम भाइयों को भी ले जाते या भेजा करते।

इसके सिवा पिताजी के पास जैन धर्माचार्यों में से कोई-न-कोई सदा आते रहते। पिताजी उन्हें भिक्षा

देकर सत्कार करते थे। वह पिताजी से धर्म-संबंधी तथा व्यावहारिक चर्चा किया करते थे। इसके सिवा पिताजी के मुसलमान और पारसी मित्र भी थे। जो अपने-अपने धर्म के बारे में चर्चा किया करते और पिताजी उनकी बातें आदर और अक्सर रस लेकर सुनते थे। इन चर्चाओं के समय 'नर्स' होने के कारण मैं प्राय: उपस्थित रहता था। इस सारे वातावरण का असर मेरे ऊपर यह हुआ कि सब धर्मों के प्रति मेरे मन में सम भाव उत्पन्न होगया।

इसमें केवल ईसाई-धर्म का अपवाद था। उसके प्रति कुछ अरुचि उत्पन्न हुई। उन दिनों हाईस्कूल के कोने पर कोई ईसाई सज्जन व्याख्यान दिया करते थे। वह हिंदू देवताओं की और हिंदूधर्मियों की निंदा किया करते थे। मुझे यह असह्य लगा। मैं एकाध बार ही उनका व्याख्यान सुनने को खड़ा हुआ होऊंगा, पर दुबारा वहां खड़ा होने को जी नहीं चाहा। इन्हीं दिनों एक नामी हिंदू के ईसाई होने की बात सुनी। गांव में यह चर्चा थी कि उसे ईसाई-धर्म में प्रवेश कराते समय गोमांस खिलाया गया और शराब पिलाई गई। उसकी पोशाक भी बदलवा दी गई और वह भाई क्रिस्तान होने के बाद कोट, पतलून और टोप पहनने लगे। ये बातें मुझे चुभीं। मैंने कहा कि जिसके लिए गोमांस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपना पहनावा बदलना पड़े वह धर्म कैसे माना जा सकता है? इसके सिवा यह भी सुना कि जो भाई ईसाई होगये हैं वे

अपने पूर्वजों के धर्म की, रीति-रिवाज और देश की निंदा करने लगे हैं। इनसब बातों से मेरे मन में ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि पैदा होगई।

इस प्रकार मेरे मन में अन्य धर्मों के प्रति समभाव तो आया, पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मुझमें ईश्वर के प्रति कुछ आस्था थी। इसी समय पिताजी की पुस्तकों में मुझे मनुस्मृति का उलथा मिला। उसमें जगत् की उत्पत्ति आदि की बातें पढ़ीं। उनपर श्रद्धा नहीं जमी, उलटे कुछ नास्तिकता आई। मेरे दूसरे चाचा के लड़के की, जो अभी जीवित हैं, बुद्धि पर मुझे विश्वास था। उनसे मैंने अपनी शंकाएं कहीं; पर वह मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने उत्तर दिया—"बड़े होने पर तुम स्वयं इन प्रश्नों को हल कर लोगे। बालकों को ऐसे प्रश्न न करने चाहिए।" मैं चुप रहा। मन को शांति न हुई। मनुस्मृति के खाद्याखाद्य तथा अन्य प्रकरणों में भी मैंने प्रचलित प्रथा का विरोध पाया। इस शंका का उत्तर भी लगभग वैसा ही मिला। मैंने यह कहकर मन को समझा लिया कि किसी दिन बुद्धि खुलेगी तब अधिक पढ़ूंगा और समझूंगा।

मनुस्मृति पढ़ने से मुझे उस समय अहिंसा की शिक्षा नहीं मिली। मांसाहार की बात कह चुका हूं। उसे तो मनुस्मृति का समर्थन मिला। सांप और खटमल आदि का मारना नीतियुक्त भी लगा। उस समय धर्म समझकर खटमल आदि मारने का मुझे स्मरण है।

पर एक बात ने मन में जड़ जमा ली—यह संसार

नीति पर टिका हुआ है। नीतिमात्र का समावेश सत्य में है। सत्य की खोज तो करनी ही है। दिन-दिन सत्य की महिमा मेरी निगाह में बढ़ती गई। सत्य की व्याख्या विस्तार पाती गई और अब भी पाती जा रही है।

नीति-विषयक एक छप्पय ने भी दिल में घर कर लिया। अपकार का बदला अपकार नहीं बल्कि उपकार ही हो सकता है, यह बात जीवनसूत्र बन गई। उसने मन पर राज करना आरंभ कर दिया। अपकारी का भला चाहना और करना इसका मैं अनुरागी बन गया। इसके बहुत-से प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है:

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे,
आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे।
आपण घासे दाम, काम महोरो नुं करीए,
आप उगारे प्राण ते तणा दुःख मां मरीए।
गुण केडे तो गुण दश गणों, मन वाचा कर्मे करी
अवगुण केडे जे गुण करे ते जगमां जीत्यो सही।[1]

[1] जल प्यावत जो, भला उसे भोजन तो दीजे;
आय नवावे शीश, दंडवत वा को कीजे।
पाई का उपकार किये, मोहर का करिये।
प्रान उबारै जो, वा के दुःख पहले मरिये
गुन के बदले दसगुनों, कीजै मन, वच, कर्म से
अवगुन करते गुन करे, सोई जीतै जग धर्म से।

: ४ :

अद्भुत त्याग

अक्सर सामान्य पाठ्य पुस्तकों से हमें अचूक उपदेश मिल जाते हैं। इन दिनों मैं उर्दू की रीडरें पढ़ रहा हूं। उनमें कोई-कोई पाठ बहुत सुंदर दिखाई देते हैं। ऐसे एक पाठ का असर मुझपर तो भरपूर हुआ है। दूसरों पर भी वैसा ही हो सकता है। अतः उसका सार यहां दिये देता हूं।

पैगंबर साहब के देहांत के बाद कुछ ही बरसों में अरबों और रूमियों (रोमनों) के बीच महासंग्राम हुआ। उसमें दोनों पक्ष के हजारों योद्धा खेत रहे, बहुत-से जख्मी भी हुए। शाम होने पर आमतौर से लड़ाई बंद हो जाती थी। एक दिन जब इस तरह लड़ाई बंद हुई तो अरब सेना का एक अरब अपने चचेरे भाई को ढूंढने निकला। उसकी लाश मिल जाय तो दफनाये और जिंदा मिले तो सेवा करे। शायद वह पानी के लिए तड़प रहा हो, यह सोचकर उसने अपने साथ लोटाभर पानी भी ले लिया।

तड़पते घायल सिपाहियों के बीच वह लालटेन लिये देखता जा रहा था। उसका भाई मिल गया और सचमुच ही उसे पानी की रट लग रही थी। जख्मों से खून बह रहा था। उसके बचने की आशा थोड़ी ही थी। भाई ने पानी का लोटा उसके पास रख दिया। इतने में किसी दूसरे घायल की 'पानी पानी' की पुकार सुनाई दी।

अतः उस दयालु सिपाही ने अपने भाई से कहा, "पहले उस घायल को पानी पिला आओ, फिर मुझे पिलाना।" जिस ओर से आवाज आ रही थी उस ओर यह भाई तेजी से कदम बढ़ाकर पहुंचा।

यह ज़ख्मी बहुत बड़ा सरदार था। उक्त अरब उसको पानी पिलाने और सरदार पीने को ही था कि इतने में तीसरी दिशा से पानी की पुकार आई। यह सरदार पहले सिपाही के बराबर ही परोपकारी था। अतः बड़ी कठिनाई से कुछ बोलकर और कुछ इशारे से समझाया कि पहले जहां से पुकार आई है वहां जाकर पानी पिला आओ। निःश्वास छोड़ते हुए यह भाई तेजी से दौड़कर जहां से आवाज आ रही थी वहां पहुंचा। इतने में इस घायल सिपाही ने आखिरी सांस ले ली और आंखें मूंद लीं। उसे पानी न मिला। यह भाई उक्त जख्मी सरदार जहां पड़ा था वहां झटपट पहुंचा; पर देखता है तो उसकी आंखें भी तबतक मुंद चुकी थीं। दुःखभरे हृदय से खुदा की बंदगी करता हुआ वह अपने भाई के पास पहुंचा तो उसकी नाड़ी भी बंद पाई, उसके प्राण भी निकल चुके थे।

यों तीन घायलों में से किसीने भी पानी न पाया; पर पहले दो अपने नाम अमर करके चले गये। इतिहास के पन्नों में ऐसे निर्मल त्याग के दृष्टांत तो बहुतेरे मिलते हैं। उनका वर्णन जोरदार कलम से किया गया हो तो उसे पढ़कर हम दो बूंद आंसू भी गिरा देते हैं; पर ऊपर जो अद्भुत दृष्टांत दिया गया है उसके देने का हेतु तो यह

है कि उक्त वीर पुरुषों के-जैसा त्याग हममें भी आये और जब हमारी परीक्षा का समय आये तब हम दूसरे को पानी पिलाकर पियें, दूसरे को जिलाकर जियें और दूसरे को जिलाने में खुद मरना पड़े तो हँसते चेहरे से कूच कर जायं।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पानी की परीक्षा से कठिनतर परीक्षा एकमात्र हवा की है। हवा के बिना तो आदमी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसीसे संपूर्ण जगत हवा से घिरा हुआ जान पड़ता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी वक्त आता है जब अलमारी-जैसी कोठरी के अंदर बहुत-से आदमी ठूंस दिये गए हों, एक ही सूराख से थोड़ी-सी हवा आ रही हो, उसे जो पा सके वही जिये, बाकी लोगों की दम घुटने से मृत्यु हो जाय। हम भगवान् से प्रार्थना करें कि ऐसा समय आये तो हम हवा को जाने दें।

हवा से दूसरे नंबर पर पानी की आवश्यकता—प्यास है। पानी के प्याले के लिए मनुष्यों के एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने की बात सुनने में आई है। हम यह इच्छा करें कि ऐसे मौकों पर उक्त बहादुर अरबों का त्याग हम-में आये। पर ऐसी अग्निपरीक्षा तो किसी एक की ही होती है। सामान्य परीक्षा हम सबकी रोज हुआ करती है। हम सबको अपने-आपसे पूछना चाहिए—जब-जब वैसा अवसर आता है तब-तब क्या हम अपने साथियों, पड़ोसियों को आगे करके खुद पीछे रहते हैं? न रहते हों तो हम नापास हुए, अहिंसा का पहला पाठ हमें नहीं आया।

: ५ :

शुद्ध न्याय

साक्रेटीज (सुकरात)[1] एथेंस (यूनान का एक नगर) का एक बुद्धिमान पुरुष होगया है। उसके नये, पर नीतिवर्धक विचार राज्य के अधिकारियों को न रुचे। इसलिए उसे मौत की सजा मिली। उस जमाने में उस देश में विषपान कराकर मारने की सजा भी दी जाती थी। साक्रेटीज को भी मीराबाई की तरह जहर का प्याला पीने के लिए दिया गया था। उसपर मुकदमा चलाया गया। उस वक्त साक्रेटीज ने जो अंतिम वचन कहे उनके सार पर विचार करना है। वह हम सबके लिए शिक्षा लेने लायक है। साक्रेटीज को हम सुकरात कहते हैं, अरब भी उसे इसी नाम से पुकारते हैं।

सुकरात ने कहा, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि भले आदमी का इस लोक या परलोक में अहित होता ही नहीं। भले आदमियों और उनके साथियों का ईश्वर कभी त्याग नहीं करता। फिर मैं तो यह भी जानता हूं कि मेरी या किसीकी भी मौत अचानक नहीं आती। मृत्युदंड मेरेलिए सजा नहीं है। मेरे मरने और उपाधि से मुक्त होने का समय आगया है। इसीसे आपने मुझे जहर का प्याला दिया है। इसीमें मेरी भलाई होगी और इससे मुझपर अभियोग लगानेवालों या मुझे सजा देनेवालों के प्रति

---

[1] ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व।

मेरे मन में क्रोध नहीं है। उन्होंने भले ही मेरा भला न चाहा हो, पर वे मेरा अहित न कर सके।

"महाजन-मंडल से मेरी एक विनती है—मेरे बेटे अगर भलाई का रास्ता छोड़कर कुमार्ग में जायं और धन के लोभी हो जायं तो जो सजा आप मुझे दे रहे हैं वही उन्हें भी दें। वे दंभी होजायं, जैसे न हों वैसा दिखाने की कोशिश करें, तो भी उनको दंड दें। आप ऐसा करेंगे तो मैं और मेरे बेटे मानेंगे कि आपने शुद्ध न्याय किया।"

अपनी संतान के विषय में सुकरात की यह मांग अद्भुत है। जो महाजन-मंडल न्याय करने को बैठा था वह अहिंसा-धर्म को तो जानता ही न था। इससे सुकरात ने अपनी संतान के बारे में उपर्युक्त प्रार्थना की, अपनी संतान को चेताया और उससे उसने क्या आशा रखी थी, यह बताया। महाजनों को मीठी फटकार बताई, क्योंकि उन्होंने सुकरात को उसकी भलमनसी के लिए सजा दी थी। सुकरात ने अपने बेटों को अपने रास्ते पर चलने की सलाह देकर यह जताया कि जो रास्ता उसने एथेंस के नागरिकों को बताया वह उसके लड़कों के लिए भी है और अगर वे उस रास्ते पर न चलें तो दंड के योग्य समझे जायं।

: ६ :

वाचन और विचार

पाठशालाओं में हम पढ़ते हैं---"वाचन मिथ्या बिना विचार।" यह उक्ति शब्दशः सत्य है। हमें किताबें पढ़ने का शौक हो तो यह अच्छा कहा जायगा। आलस्य-वश जो पढ़ता नहीं, बांचता नहीं वह अवश्य मूढ़ माना जायगा; पर जो खाली पढ़ा ही करता है, विचार नहीं करता, वह भी लगभग मूढ़-जैसा ही रहता है। इस पढ़ाई के एवज में कितने ही आंख खो बैठते हैं, वह अलग है। निरा वाचन एक प्रकार का रोग है।

हममें बहुतेरे निरी पढ़ाई करनेवाले होते हैं। वे पढ़ते हैं; पर गुनते नहीं; विचारते नहीं। फलतः पढ़ी हुई चीज पर अमल वे क्यों करने लगे? इससे हमें चाहिए कि थोड़ा पढ़ें, उसपर विचार करें और उसपर अमल करें। अमल करते वक्त जो ठीक न जान पड़े उसे छोड़ दें और आगे बढ़ें। ऐसा करनेवाला थोड़ी पढ़ाई से अपना काम चला सकता है, बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करने की जिम्मेदारी उठाने के योग्य बनता है।

जो विचार करना सीख लेता है उसको एक लाभ और होता है, जो उल्लेखनीय है। पढ़ने को हमेशा नहीं मिल सका। देखने में आता है कि जिसे पढ़ने की आदत पड़ गई हो उसे पढ़ने को न मिले तो वह परेशान हो जाता है। पर विचार करने की आदत पड़ जाय तो

उसके पास विचार-पोथी तो प्रस्तुत रहती ही है, अतः उसे परेशानी में नहीं पड़ना पड़ता।

'विचार करना सीखना', यह शब्द-प्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है। सही-गलत, निकम्मे विचार तो बहुतेरे किया करते हैं, वह तो पागलपन है। कितने ही विचारों के भंवर में पड़कर निराश हो जाते और आत्म-घात भी कर बैठते हैं। ऐसे विचार की बात यहां नहीं की जा रही है। इस समय तो मेरा तात्पर्य पढ़े हुए पर विचार करने से है : मान लीजिए कि आज हमने एक भजन सुना या पढ़ा, उसका विचार करना। उसमें क्या रहस्य है, उससे मुझे क्या लेना है, क्या नहीं लेना है, इसकी छानबीन करना, उसमें दोष हों तो उन्हें देखना, अर्थ न समझ में आया हो तो उसे समझना---यह विचार-पद्धति कही जायगी। यह मैंने सादे-से-सादा दृष्टांत लिया है। इसमें से हरेक अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार दूसरा दृष्टांत घटित कर ले और आगे बढ़े। ऐसा करनेवाला अंत में आत्मिक आनंद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा।

"उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है ?"---अरे मुसाफिर, उठ। सवेरा हुआ। अब रात कहां है जो तू सोता है ? इतना समझकर जो बैठ जाता है उसने पढ़ा, पर विचार नहीं किया; क्योंकि वह सवेरे के समय उठकर ही अपने-आपको कृतार्थ मान लेता है। पर जो विचार करना चाहता है वह तो अपने-आपसे पूछता है---मुसाफिर यानी कौन ? सवेरा

हुआ के मानी क्या हुए ? रात गई यानी ? सोना क्या है ? यों सोचे तो रोज एक पंक्ति के अनेक अर्थ निकाल ले और समझे कि मुसाफिर यानी जीवमात्र। जिसे ईश्वर पर आस्था है उसके लिए सदा सवेरा ही है। रात के मानी आराम भी हो सकते हैं और जो जरा भी गाफिल—लापरवाह—रहता है, उस पर यह पंक्ति घटित होती है। जो झूठ बोलता है वह भी सोया हुआ है। यह पंक्ति उसे भी जगानेवाली है। यों उससे व्यापक अर्थ निकालकर आश्वासन प्राप्त किया जा सकता है। यानी एक पंक्ति का ध्यान मनुष्य के लिए आत्मिक उन्नति का पूरा सहारा हो सकता है और चारों वेद कंठ कर जानेवाले और उसका अर्थ भी जानने-वाले के लिए यह बोझरूप बन सकता है। यह तो मैंने एक जबान पर चढ़ी हुई मिसाल दे दी है। सब अपनी-अपनी दिशा चुनकर विचार करने लग जायं तो जीवन में नया अर्थ निकालेंगे और नित्य नया रस लूटेंगे।

: ७ :

शरीर

शरीर की जानकारी के पहले हमें आरोग्य का अर्थ जान लेना चाहिए। आरोग्य का अर्थ है तंदुरुस्ती। जिसका शरीर व्याधिरहित है, साधारण काम करने योग्य है, अर्थात् जो बिना थके रोज दस-बारह मील चल सकता है, मामूली मेहनत के काम बिना थकान

के कर सकता है, साधारण खुराक पचा सकता है, जिसकी इंद्रियां और मन सजीव हैं, वह तंदुरुस्त कहा जायगा। मेरा मतलब पहलवान शरीर या बहुत दौड़ने-कूदने की ताकत से नहीं है। ऐसी असाधारण शक्ति प्रकट करनेवाले रोगग्रस्त हो सकते हैं। ऐसे शारीरिक विकास को एकांगी कहेंगे।

जिस तरह के आरोग्य की बात कही गई है उसके लिए शरीर का कुछ ज्ञान आवश्यक है।

राम जानें पहले शिक्षा का क्या रूप था। इतिहासज्ञ कुछ जानते होंगे। वर्तमान शिक्षा का तो हम सबको थोड़ा-बहुत पता है। इस शिक्षा का हमारी रोजाना की जिंदगी से कोई संबंध नहीं रहता। इसके द्वारा हमें हरदम काम आनेवाले अपने शरीर का ज्ञान नहीं के बराबर ही मिलता है। वही दशा अपने गांव, अपने खेत के ज्ञान के संबंध में है। लेकिन दुनिया के भूगोल को तो हम तोते की तरह रटते हैं। मैं उसे अनुपयोगी नहीं कहता, लेकिन सभी चीजें मौके से शोभा देती हैं। हमें अपने शरीर, घर, गांव की चौहद्दी, वहां पैदा होनेवाले पेड़-पौधों और गांव के इतिहास का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। इस नींव के आधारवाला अन्य ज्ञान हमारे लिए उपयोगी हो सकता है।

शरीर पांच महाभूतों से बना है। कवि ने कहा है

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित यह अधम शरीरा॥[1]

---

[1]अर्थात्—पृथ्वी जल अग्नि आकाश और वायु इन पांच [illegible]

शरीर का व्यवहार दस इंद्रियों और मन द्वारा चलता है। दस इंद्रियों में पांच कर्मेंद्रियां हैं और पांच ज्ञानेंद्रियां।[1]

मन के द्वारा हम विचार करते हैं। कोई-कोई मन को ग्यारहवीं इंद्रिय कहते हैं। इन इंद्रियों के व्यवहार पूरी तरह चलते रहने पर ही मनुष्य तंदुरुस्त कहा जा सकता है। ऐसी तंदुरुस्ती बिरले की ही पाई जाती है।

शरीर की कुल रचना हमें आश्चर्य में डालनेवाली है। शरीर इस संसार का एक छोटा-सा, लेकिन जीता-जागता, नमूना है। जो उसमें नहीं है वह संसार में नहीं है। जो संसार में है वह शरीर में है—'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे'[2]। यह महावाक्य यही बतलाता है। मतलब, शरीर को पूरी तरह से जान पाने पर कहा जा सकता है कि हम जगत को जानते हैं। पर ऐसा ज्ञान तो डाक्टर, वैद्य, हकीमों तक को नहीं मिल पाता, हम साधारण मनुष्य तो पा ही कहां सकते हैं? अभी तक ऐसा कोई यंत्र नहीं निकला कि जिससे मन जाना जा सके। विशेषज्ञ शरीर के भीतर-बाहर होनेवाली क्रियाओं के आकर्षक वर्णन दे

तत्त्वों से यह शरीर बना है।

[1] शरीर के जिन अंगों से मनुष्य कार्य करता है वे कर्मेंद्रियां और जिनसे ज्ञान प्राप्त करता है, वे ज्ञानेंद्रियां कहलाती हैं।

[2] जिस प्रकार बीज के अंदर सारा पेड़ समाया हुआ है, उसी तरह हमारे शरीर में सारा बाहरी जगत समाया हुआ है।

सकते हैं, लेकिन वे क्रियाएं होती कैसे हैं, यह नहीं बता सकते। किसने जाना है कि मौत क्यों आती है ? कौन बता सकता है कि वह कब आयेगी ? मतलब, मनुष्य ने पढ़ा, सोचा, अनुभव किया बहुत; लेकिन अंत में वह इसी नतीजे पर आया कि वह अल्पज्ञ है।

शरीर के अंदर चलनेवाली अद्भुत क्रियाओं पर ही इंद्रियों का सुख आधारित है। शरीर के सभी अंगों की नियमबद्धता पर शरीर का सही संचालन निर्भर है। किसी भी खास अंग का काम रुका कि गाड़ी अटकी। इनमें भी मेदा अपना काम ठीक न करे तो समूचा शरीर मांदा हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि अपच या कब्ज की ओर से लापरवाह रहनेवाले शरीर-धर्म को नहीं जानते। अनेक रोग इसीमें से पैदा होते हैं।

अब शरीर के उपयोग के बारे में विचार करें।

हर वस्तु का भला और बुरा उपयोग हो सकता है। शरीर पर भी यह नियम घटता है। उसे स्वार्थ या उच्छृं-खलता अथवा दूसरों को हानि पहुंचाने में बरतना, उसका दुरुपयोग है। संसार की सेवा में लगाना, उससे संयम साधना, उसका सदुपयोग समझा जायगा। हमारा शरीर यदि आत्मा को, जो परमात्मा का अंश है, पहचानने में लगाया जाय तो वह आत्मा के रहने का मंदिर बन जाता है।

शरीर को मल-मूत्र की खान कहा गया है। एक तरह से सोचने पर इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। पर यदि शरीर इससे अधिक कुछ न हो तब तो उसका

जतन करने के कोई मानी नहीं होते। लेकिन दूसरी दृष्टि से देखें और उसे मल-मूत्र की खान कहने के बजाय यह समझें कि उसमें कुदरत ने मल-मूत्रादि निकालने के द्वार भी रखे हैं तो उसे दुरुस्त रखकर सुरक्षित रखना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। हीरे या सोने की खान को देखा जाय तो वास्तव में वह मिट्टी की खान ही है; पर उसमें सोना या हीरा होने का ज्ञान मनुष्य से उसके पीछे करोड़ों रुपये खर्च करवाता है और उसपर अनेकानेक विशेषज्ञों की बुद्धि लगती है। फिर आत्मा के मंदिररूपी शरीर के लिए कुछ करने में क्या कठिनाई है ?

जगत में मनुष्य उसका ऋण चुकाने यानी उसकी सेवा करने को जन्म लेता है। इस दृष्टि से तो मनुष्य अपने शरीर का संरक्षक (ट्रस्टी) सिद्ध होता है। उसे शरीर का ऐसा जतन करना चाहिए कि वह सेवा-धर्म के पालन में पूरा काम दे सके।

: ८ :

हवा और पानी

शरीर के लिए सबसे जरूरी चीज हवा है। इसीसे कुदरत ने हवा को व्यापक बनाया है। इसे हम बिना प्रयत्न के पा जाते हैं।

हम नथुनों द्वारा हवा फेफड़ों में भरते हैं। फेफड़े

धौंकनी का काम करते हैं। वे हवा को लेते और निकालते हैं। बाहर की हवा में प्राणवायु होती है। उसके बिना आदमी जिंदा नहीं रह सकता। सांस से बाहर निकाली जानेवाली हवा जहरीली होती है। यदि वह तुरंत आस-पास फैल न जाय तो हम मर जायं। इसीलिए घर ऐसे होने चाहिए कि उनमें बिना किसी रुकावट के हवा आ-जा सके।

किंतु हवा के फेफड़ों में भरने और निकालने की उचित विधि लोग नहीं जानते। इस कार जैसी चाहिए वैसी रक्तशुद्धि नहीं होती। हवा का काम रक्तशुद्धि है। कितने ही लोग मुंह से सांस लेते हैं। यह बुरी आदत है। नाक में कुदरत ने एक जाली-सी बनाई है, जिसकी वजह से हवा में मिली हुई निकम्मी चीजें अंदर नहीं जा पातीं। उसके कारण हवा गरम भी हो जाती हैं। मुंह से सांस लेने पर हवा अंदर साफ होकर नहीं जाती और न गर्म होती है। ठीक हवा के लेने के लिए प्रत्येक मनुष्य को प्राणायाम सीख लेना चाहिए। यह क्रिया जितनी सरल है उतनी ही जरूरी है। प्राणायाम के अलग-अलग प्रकार हैं। पर उन सबमें पड़ने की आवश्यकता मैं नहीं मानता। मैं यह नहीं कहता कि उनमें फायदा नहीं है, लेकिन नियमित जीवन बितानेवाले मनुष्य की सब क्रियाएं स्वाभाविक होती हैं और उससे होनेवाला फायदा अनेक प्रकार की बताई जानेवाली प्रक्रियाओं में नहीं मिलता।

चलते-फिरते और सोते समय मुंह बंद. रखें तो नाक स्वभावतः अपना काम करेगी ही। सुबह मुंह

साफ करने के साथ-साथ नाक भी साफ करनी चाहिए। नाक की गंदगी को निकालने देना चाहिए। उसका सबसे अच्छा साधन साफ पानी है। जिससे ठंडा पानी न सहा जाय उसे नाक से गुनगुना पानी खींचना चाहिए। चुल्लू या कटोरी में पानी लेकर नाक से खींच सकते हैं। एक नथुने से खींचकर दूसरे से निकाल सकते हैं। नाक से पानी पी भी सकते हैं।

हवा शुद्ध ही लेनी आवश्यक है, इसलिए रात को आकाश के नीचे या बरामदे में सोने की आदत डालनी चाहिए। हवा से ठंड लगने का भय न रखें। ज्यादा ठंडी हवा हो तो पूरा ओढ़ें। ओढ़ना गले के ऊपर नहीं जाना चाहिए। नाक के द्वारा बाहर की ताजी हवा रात को भी मिलनी चाहिए। मुंह ढकने से मनुष्य का दम घुट जाता है। सिर पर ठंडक लगे और बर्दाश्त के बाहर हो तो अंगोछे से सिर ढक लें।

सोते वक्त, दिन में पहने हुए कपड़े न पहनें। दूसरे और कम-से-कम कपड़े काम में लायें। केवल लंगोटी से भी काम चल सकता है। रात में शरीर को हम जितना आजाद रख सकें उतना ही फायदा है। दिन के पहनने के कपड़े भी जितने ढीले हों उतना अच्छा है।

हमारे आसपास की हवा साफ ही होती हो, ऐसा नहीं होता। सब हवा एक-सी भी नहीं होती। प्रदेश-प्रदेश की हवा में अंतर होता है। प्रदेश का चुनाव हमारे हाथ में नहीं होता। लेकिन जिस प्रदेश में रहते हों वहां हम हवा के लिहाज से जगह पसंद करते हैं और करनी

चाहिए। साधारणतः हमें घर ऐसी जगह ढूंढ़ना चाहिए, जहां अधिक भीड़ न हो, आसपास गंदगी न हो और जहां हमें हवा और प्रकाश काफी मिल सके।

•

शरीर बनाये रखने में हवा के बाद दूसरा दर्जा पानी का है। हवा के बिना मनुष्य कुछ क्षण ही जी सकता है। पानी बिना कुछ दिन निकल सकते हैं। बहुत जरूरी होने की वजह से कुदरत ने पानी बहुतायत से दिया है। बिना पानी के मरुभूमि में मनुष्य बस नहीं सकता। इसी वजह से सहारा[1] के रेतीले प्रदेशों में कोई आबादी नहीं नजर आती।

आदमी को तंदुरुस्ती बनाये रखने के लिए नित्य इतने तरल पदार्थ का उपयोग करना चाहिए कि जिससे ढाई सेर पानी पेट में पहुंच जाय। पानी साफ होना चाहिए। बहुत जगहों में पानी साफ नहीं होता। कुएं का पानी पीने में जोखिम है। ऐसे छिछले कुएं या बावड़ी का पानी, जिसमें मनुष्य उतर सकता है, पीने लायक नहीं होता। यह दुःख की बात है कि पानी पीने लायक है या नहीं, यह न आंखें हमेशा बतला सकती हैं, न स्वाद। देखने और स्वाद में शुद्ध लगनेवाला पानी पीने में विषरूप भी हो सकता है। इसलिए अनजाने कुएं या अनजाने घर का पानी न पीने की प्रथा प्रशंसनीय है। बंगाल में तालाब होते हैं, जिनका पानी बहुधा पीने लायक नहीं होता। बड़ी नदियों का भी उस स्थान का पानी, जहां जहाज और

---

[1]अरब का एक रेतीला प्रदेश।

नावों का आवागमन होता रहता है, पीने लायक नहीं होता। माना कि करोड़ों आदमी ऐसा पानी पीकर गुजर करते हैं, लेकिन यह अनुकरणीय नहीं माना जा सकता। कुदरत ने आदमी को जीवन-शक्ति बड़ी मात्रा में न दी होती तो वह जिस स्वच्छंदता से चलता है, उससे उसका कभी का खात्मा हो गया होता। पानी की शुद्धता में शंका होने पर उसे उबालकर पीना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि आदमी को अपने पीने का पानी साथ लेकर चलना चाहिए। बेशुमार आदमी धर्म के नाम पर सफर में पानी नहीं पीते। जो चीज अज्ञानी मनुष्य धर्म के नाम पर करते हैं, वह तंदुरुस्ती के नियम जाननेवाले को आरोग्य के खातिर करनी चाहिए।

पानी को छानने की प्रथा प्रशंसनीय है। इससे भी उसकी गंदगी निकल जाती है। पानी में से सूक्ष्म जंतु नहीं निकलते। उनके नाश के लिए तो पानी को उबालना ही अनिवार्य है। छनना हमेशा साफ होना चाहिए, चिकना नहीं।
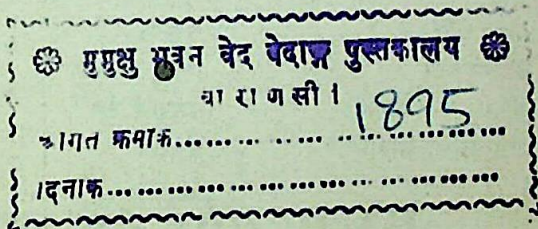
'मंडल' का गांधीजी द्वारा लिखित बालोपयोगी साहित्य

आत्मकथा (संक्षिप्त)
गीता-बोध
गीता की महिमा
आश्रमवासियों से
नीति-धर्म
गांधीजी का जीवन-प्रभात
देश-सेवकों के संस्मरण
बापू का पथ
गांधी शिक्षा (भाग १, २, ३)
गांधी आख्यान माला — १० पुस्तकें

अन्य द्वारा लिखित

गांधीजी की देन	राजेन्द्रप्रसाद
राष्ट्रपिता	जवाहरलाल नेहरू
गांधी : एक जीवनी	बी० आर० नंदा
मेरे जीवन में गांधीजी	घनश्यामदास बिड़ला
मेरे हृदय-देव	हरिभाऊ उपाध्याय
बापू के आश्रम में	हरिभाऊ उपाध्याय
गांधी : वैष्णवजन	संकलन
बापूकी बातें	विष्णु प्रभाकर
अहिंसा की कहानी	यशपाल जैन
गांधीजी का जीवन-संदेश	संकलन
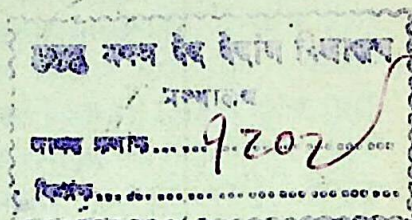
सस्ता साहित्य मण्डल

एन-७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

'मंडल' का

विशेष गांधी-साहित्य

□ गांधीजी द्वारा

आत्म कथा (सम्पूर्ण)

आत्म कथा (संक्षिप्त)

अनासक्ति-योग

गीता की महिमा

गीता-पदार्थ कोश

मंगल प्रभात

नीति-धर्म

गांधी चिन्तन

स्वराज्य का अर्थ

गांधी-आख्यान-माला (१० पुस्तकें)

गांधी शिक्षा भाग १, २, ३

□ अन्य द्वारा

मेरे जीवन में गांधीजी

गांधीजी का जीवन-सन्देश

बापू का पथ

बापू की कारावास-कहानी

गांधी एवं जीवनी

गांधी वैष्णवजन

बापू की बातें